Chapter-3

तृतीय अध्याय

राजस्थानी लोक संगीत "माण्ड"

आवोजी भँवर अलबेला रे म्हलाँ, थै म्हारै म्हलाँ,
आवोजी भँवर अलबेला ....

(१) साजन - साजन म्है करां साजन जीव जड़ी,
सूरत लिखावूँ चूड़ले निरखूँ घड़ी-घड़ी ।
आवोजी भँवर ....

(२) नैनन की कर कोटरी पुतली देऊं बिछाय,
पलकन कि चिक डार दयूँ साजन लेहुँ छिपाय ।
आवोजी भँवर ....

(३) जो मै ऐसा जानती प्रीत करे दुख होए,
तो नगर ढिढौंरा पीटती प्रीत ना करियो कोए ।
आवोजी भँवर ....

भावार्थ :- प्रस्तुत माण्ड में नायिका द्वारा नायक को अपने पास आने का आग्रह किया जा रहा है, नायिका साजन साजन पुकारती रहती है, क्योंकि साजन ही उसके प्राण है, उसके बिना नहीं रह सकती इसलिए वह अपने चूड़ले में प्रियतम की सूरत बसा लेती है, ताकि जब चाहे तब उस सूरत को निहार सके । दूसरे दोहे में वह कहती है कि मैं आखों की कोटरी बना कर पुतली को बिछा दूँ ताकी ऊपर से पलकों कि चिक डाल कर दूँ तथा इस प्रकार से साजन की छवि को अपने पास छुपाकर रखूँगीं । तीसरे दोहे में नायिका कहती है, कि मुझे मालूम नहीं था प्रीत करके विरह दुख सहना पड़ेगा ये पहले ज्ञात होता तो पूरे नगर में ढिढोंरा पिटवा देतीं कि कोई प्रीत नहीं करे अर्थात नायिका द्वारा नायक से आग्रह - विनती व विरह आदि भाव इस माण्ड में हमें दिखाई देते हैं ।

अतः माण्ड गायकी एक ऐसी पद्धति है जिसे राजस्थान की ओर से शास्त्रीय संगीत को सप्रेम भेंट कहा जा सकता है । "माण्ड" सम्पूर्ण राजस्थान में गाया जाता है । राजस्थान में माण्ड की संख्या सैकड़ों में है तथा माण्ड राजस्थान के विभिन्न अंचलों में अपने पौराणिक स्वरुप में परम्परागत रुप से विद्यमान है जैसे जैसलमेरी माण्ड, बीकानेरी माण्ड, जोधपुरी माण्ड, उदयपुरी माण्ड, बाड़मेरी माण्ड व जयपुरी माण्ड ।

माण्ड शब्द से तात्पर्य है माण्डना, अर्थात बनाना - राजस्थान में मुख्यतः घर के बाहर आँगन में अल्पना बनाते हैं, चित्र बनाते हैं या हाथों में मेहन्दी माण्डते हैं ये सभी "माण्डना" कहलाते हैं अतः संगीत में स्वरों को जमा जमाकर खूबसूरती से गाना ही माण्ड है।

विदेशिया रे थारी ओलूडी आवे नी रे
ओलूड़ी आवे नी रे ओलूड़ी आवे रें ....

(१) ओलू कर पीली पड़ी हेऽ लोग जाणे कछु ओर,
छान आँगण मैं कराँ पिया पिलन को जोग ।
रजरी ओलूडी आवै ....
विदेसिया ....

(२) हाँ सजना यूँ मत जाणियो, तुम बिछुडे मोहे चैन,
जादू वन की लाकड़ी है सिलगत है दिन रैन ।
रजरी ओलूड़ी आवै
विदेसिया ....

(३) कागा सब तन खाईयो, चुन चुन खाईयो मांस,
दो नैणा मत खाईयों, पिया मिलन की आस
हो रजरी ओलूड़ी
विदेसिया ....

भावार्थ :- नायिका को नायक की याद आ रही है, नायक की याद में पीली पड़ गई है और लोग समझ रहें हैं कि नायिका को कुछ हो गया है । नायिका नायक के लिए कह रही है कि यूँ मत समझना कि तुम से दूर होकर मुझे चैन है, मैं जंगल की उस लकड़ी के समान हूँ जो दिन रात सुलगती है । अन्तिम दोहे में नायिका - नायक के दूर होने के कारण कौवे से कह रही है कि चुन-चुन के मेरा मांस खा लेना किन्तु मेरे ये दो नयन हैं इन्हें मत खाना क्योंकि इन नैनों को अब भी पिया के मिलने की आस है ।

राजस्थान के जैसलमेर क्षेत्र में माण्ड अत्यधिक लोकप्रिय हुआ । प्रारम्भ में जैसलमेर को "माण्ड प्रदेश" कहा जाता था, इसी प्रदेश से माण्ड शैली की व्युतपत्ति मानी जाती है, साधारण शब्दों में कहा जाए तो राजा-महाराजाओं के सम्मुख, उनकी प्रशंसा के लिए गाई जाती थी ।

संगीत प्रेमी राजा-महाराजाओं ने अपने समय में शास्त्रीय संगीत से ओत प्रोत ऐसी शैली को खुलेदिल से बढ़ावा दिया तथा इस शैली का विकास हुआ या यों कहें कि ये शैली विभिन्न रुपों से फली-फूली । परन्तु पारम्परिक भाषा में आज इन जाति के गायकों को उनकी जाति के अनुसार सम्बोधित करना अच्छा नहीं समझा जाता, इसे माण्ड शैली के नज़रिए से देखा जाए तो इसमें कुछ गलत नहीं है, उस समय कलाकारों को समाज में अपना यथायोग्य स्थान प्राप्त था किन्तु वर्तमान में सभी कलाकार समान हैं ।

माण्ड में स्वर लय की प्रधानता रहती है, रागों के समीप होती है, कुछ जातियाँ लंगा - मांगणियार, ढोली मिरासी आदि गीतों को मोड़तोड़कर खटकों के साथ शास्त्रीय गीतों के समान मीड़, मुरकी व छोटी-छोटी तानों के साथ गाते हैं, धुनें परिपक्व होती हैं । भावों को भाषा रुपी धागे में पिरोकर भांति-भांति की गायन कला की बारिकियों के साथ प्रस्तुत करना माण्ड शैली की अनूठी विशेषता है ।

माण्ड गीतों का प्राणत्व विविध प्रकार के मनमोहक व मार्मिक प्रसंगों में समाया हुआ है, विविध ऋतुओं, त्यौहारों, संस्कारों व मनोभावों के अनुकूल ही कलाकार अपने स्वरों को साधते हैं । माण्ड कलाकारों ने इन पर अथक परिश्रम किया तथा रचनाकारों ने भी गीतों के

बोलों को चुन-चुन कर सजाया। ऐतिहासिक सांस्कृतिक व साहित्यक इन सभी कोणों से इन गीतों का महत्व है। इन गीतों में सांस्कृतिक परम्पराएँ तथा सामाजिक गतिविधियों की अनोखी व अनूठी गाथाएँ हैं।

थार के रेगिस्तान में मूमल-महेन्द्र राणा की प्रेम कहानी उतनी ही प्रसिद्ध है जितनी दास्ताने लैला-मजनूं की, राजकुमारी मूमल का जन्म स्थान लुडर्वा (जैसलमेर) था ऐसी ही एक किवदन्ती अनुसार - राजकुमारी मूमल अत्यन्त ही सुन्दर थी और युवाओं को आकर्षित करती थी, कई युवा राजकुमार उसके महल में घुसने के बाद लापता हो गए, कहा जाता है कि राजकुमारी ने अपने विवाह कि बहुत कठिन तर्क रखी थी, जिसे पूर्ण करने की आस में राजकुमार - राजकुमारी के महल में प्रवेश करते और लापता हो जाते ऐसा कहा जाता है कि राजकुमारी मूमल ने अपने शयनकक्ष में तहखाना बनवा रखा था जो कच्चे धागों से लटकाए गए शीशों से ढका था, राजकुमार धोखा खाते और धोखे से तहखाने में गिर जाते थे लेकिन अमर कोट के राणा महेन्द्र तहखाने में गिरे बिना राजकुमारी के शयनकक्ष में पहुँच गए तथा तभी से उनकी प्रेम कहानी की शुरुआत हुई किन्तु उन दोनों का विवाह नहीं हो पाया तथा कहा जाता है कि मूमल ने महेन्द्र के इंतजार में सारा जीवन बिता दिया ।

राजस्थान के जैसलमेर प्रदेश में स्थित लुडर्वा नामक स्थान भी भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग हाल में मूमल की ढाड़ी का जीर्णोद्धार करके उसे संरक्षित किया है व लोक गीतों में मूमल व महेन्द्र राणा का सम्पूर्ण वर्णन हमें मिलता है, मूमल खूबसूरती का एक संगमरमरीय नमूना थी । इस गीत में "मूमल" (नायिका) के नख से शिख का वर्णन अत्यन्त ही रोचकपूर्ण ढंग से किया गया है ।

मूमल :-

काळी काळी काज़लिये री रेख सा
कालोड़े आये काढल में चमकें बीजली
ढोले री मूमल, हालै तो ले चालाँ, मरुधर देस में,
सीस मूमल रॉ बासक नाग ज्यूँ
ढोले री मूमल, हालै तो ले चालाँ मरूधर देस,
नाक मूमल री सूबा केरी चाचँ
आँख मूमल री प्याला मद भरया
चिरताली मूमल हाल्यौ तो ले चालाँ, मरु ....
दांत मूमल रा दाड़ामय रा बीज
होंठ मूमल रो हिंगूल ढोलियां
पिया प्यारी मूमल, हालें तो ले चालां मरुधर देस ....
पेट मूमल रो पीपलिये रौ पान
हिवड़े मूमल रो साँचे दालियो
नखराली मूमल हालै तो लै चलां मरुधर देस
बांह मूमल री चंपा केरी डाल
आंगलिया मूमल री मूँग री फलिया
ढोलें री धण मूमल हाले तो लै चालां मरुधर देस ।
बाट कड़ी में मूमल रे तेल चमेली री
धुमालें में मूमल रे आंटी डोरा कांगसी, ढोते.........
हातौ नी मूमल लुघराणै रै देस

भावार्थ :- मूमल नायिका का नाम है तथा ढोला नायक का संबोधन है, नायक, नायिका से मरुधर देश चलने का आग्रह करता है तथा गीत में मूमल की सुन्दरता का भी वर्णन किया गया है – मूमल जब काज़ल से भरे नैन झपकती है तो ऐसा लगता है मानों भूरे पर्वत शिखर पर बिज़ली चमकी हो । मूमल का शीश ठोस नारियल जैसा और चोटी ऐसी है मानो वासुकी नाग लहरा रहा हो, मूमल की नाक तोते जैसे तीखी है और, आँख (मूमल की) मद भरे प्याले के समान है, मूमल के दाँत अनार के दाने जैसे हैं तथा मूमल के होट रेशम के तार जैसे पतले व मुलायम हैं, मूमल का पेट पीपल के पत्ते जैसा है तथा हृदय तो मानो किसी सांचे में ढाला गया है । बाहें मूमल की चंपा की डाल के समान है व मूमल की अँगुलियाँ मूँग की फलियों के समान हैं ।

*****

माण्ड का विकास :-

राजस्थान की प्रभावशाली एवं सशक्त गायन शैली "माण्ड", गायकी के सम्बन्ध में अनेक मत हैं, कुछ विद्वानों के अनुसार "जैसलमेर प्रदेश" का नाम माण्ड प्रदेश था अतः उस क्षेत्र में प्रचलित गायन शैली द्वारा "माण्ड" का विकास बतातें हैं ।

कुछ गुणीजनों द्वारा स्पष्ट किया जाता है कि "माण्ड" राजस्थानी भाषा में प्रयुक्त होनेवाला शब्द है, जिसका शाब्दिक अर्थ चित्र बनाना, अलंकृत करना अर्थात "माण्डना" अतः स्वरों के कुछ विशिष्ट स्वर समुहों को सुकून से गाना माण्ड है ।

किन्तु राजस्थान के प्रत्येक नगरों के सभी गुणीजन, गायक कलाकार, संगीत कलाकार माण्ड के प्रति सर्व सहमति रखते हैं कि माण्ड राजा-महाराजाओं में रजवाड़ों में, व सामन्तीय परिवेश में उनकी प्रशंसा द्वारा गाई जानेवाली मधुर व धीर गंभीर गायकी है व माण्ड गायकी का विकासक्रम इन्हीं के काल से आरम्भ हुआ । हम मान सकते हैं कि राजा महाराजाओं के आश्रय में गुणी कलाकारों की सृजनशक्ति का विकसित रुप ही माण्ड है, राजा महाराजाओं की रुचि के अनुरुप कलाकार अपनी-अपनी योग्यता, कौशलता के अनुरुप रचना को सजाते-सँवारते और एक सुदृढ़ गायकी के रुप में प्रस्तुत करते । धीरे धीरे प्रत्येक अवसर तथा प्रत्येक पल में घटित घटनाओं का वर्णन, जीवन से सम्बन्धित छोटी-छोटी वस्तुओं और साधारण बातों को भी काव्य रुप में बाँधकर व माण्ड के स्वरों में डाल कर गायकी के रुप में गाया जाने लगा । इतिहास दर्ज करने के दृष्टिकोण से देखें तो माण्ड शैली का प्रादुर्भाव क्षितिज के समान है -- जो अनंत है, जो कितना ही चाहो पकड़ में नहीं आता - इस विधा का आरम्भ कब कहाँ से हुआ यह सर्वथा अज्ञात ही है, ऐसा प्रतीत होता है, माण्ड और राजस्थान की धरा दोनों का जम्न-जन्म का साथ है । दिन भर आतप-ताप में तपी मरुभूमि चाँदनी-रात के शीतल आगोश में संतृप्त होती है और फिर दूर-सुदूर तक माण्ड की स्वरलहरियां जो अपना जादू बिखेरती हैं तो यों प्रतीत होता है कि इस धरा की संतृप्ति यहाँ के बाशिंदों को अपना सुनहरा स्पर्श प्रदान कर उनके स्वरों को कला के उस चरम आनन्द

तक पहुँचा रही है जहाँ दीन-दुनिया, दुख-सुख सब भुलाकर मनुष्य, अपना सब कुछ लुटाकर बस सात सुरों की बेजोड़ कारीगरी में डूबता ही जाता है । यह स्वर्गीय अनुभव शब्दों से परे है - जिसने मरुभूमि की चांदनी रात में माण्ड के गीतों का श्रवण, रसपान किया है वह आजीवन उन्हें भुला नहीं सकता।

रजवाड़ों में कब से माण्ड शैली चली आ रही है - इसका तो कोई निश्चित ठिकाना पता नहीं चलता - बस इस धरा के लोग परम्परागत रुप से सीखते हैं व माण्ड के सुरों को पकड़ते आ रहें है, माण्ड शैली का वैविध्य इतना अधिक और इतना पुरजोर है कि किसी को कभी सीखने या प्रस्तुति में अछत ही नहीं आयी । पुराने लोगों के पास से माण्ड प्रस्तुति के ऐसे-ऐसे बेमिसाल किस्सें-बातें सुनने मिलती हैं कि ऐसा लगता है कि संगीत रसिक उस जमाने में कितने धनी व समृद्ध थे । ऐसी बेजोड़ कृतियाँ, मनमोहक प्रस्तुतियाँ, माण्ड शैली की वार्तायें बतानेवाले इतने विभोर होकर वर्णन करते है कि श्रोता मंत्रमुग्ध रह जाते हैं । कला के प्रति पूर्णरुप से समर्पित माण्ड गायक, साधक अपनी गायकी से राजा-महाराजाओं की महफिलों को यादगार आयाम प्रस्तुत करते थे, कहने-सुननेवाले यह बतातें है कि न ऐसी चीज कभी किसी ने गायी थी, और न ऐसी चीज़ फिर कभी कोई गा पायेगा । कला के कद्रदाताओं की कमी न थी - अतः कला के प्रति पूर्ण रुप से समर्पित होकर उसे नये-नये आयाम और अमरत्व प्रदान करनेवालों की भी कोई कमी न थी । अदने से अदने कलाकार गायक भी बहुत सुरीले होते थे, जहाँ से लिखित इतिहास मिलता है और जो किवंदतियां मिलती हैं उनसें समय रेखा के दो सौ-ढाई सौ वर्षों मे ही अनेक माण्ड गायकों के बारे में पता चलता है जिनका उनकें समय में कोई सानी न था । ऐसी स्थिति में माण्ड के विकास की भला क्या बात की जा सकती है, बस यही कहा जा सकता है कि माण्ड शैली पीढ़ी दर पीढ़ी पनपती रही फलती - फूलती रही। संप्रति कद्रदानों के न रहने पर खाने-रहने का जुगाड़ न होने की स्थिति में कालान्तर में यह शैली कुछ सिमट सी गई पर माण्ड गायकी में वह जादू है कि जिसने भी इसमें तनिक सा भी रस दिखाया वह उसके सर चढकर झूमने

लगती है । यही कारण है कि गायन प्रस्तुतियों में विभिन्न मंचीय कार्यक्रमों में भांति-भांति के विभिन्न श्रेष्ठ संगीत की प्रस्तुतियों के बाद कार्यक्रम की पूर्णाहूति के समय माण्ड गायी जाती है, माण्ड शैली अपने आप में संपूर्ण है ।

शोध के कार्य से माण्ड गायक जातियों लंगाओ, मांगणियारों, मिरासियों आदि के विभिन्न इलाकों में जाने का अवसर मिला वहाँ जाति विशेष गायकों, कलाकारों व मरुभूमि के साधारण वासियों से मिलना हुआ - जब भी जहाँ भी माण्ड गाकर सुनाई गई - मैं मंत्रमुग्ध सी रह गई - मेरे शोध के लिए कुछ पूछना है जानना है - वह भी ध्यान नहीं रहता। बस नायाब प्रस्तुतियाँ सुनी और पाया कि यहाँ के पानी में ही कला है । आर्थिक स्थिति से कमजोर जीर्ण-शीर्ण दशा में इन जातियों के लोग हैं । लेकिन जब धुन में आकर गाते हैं तो यों लगता है कि संगीत जगत में इनसे मालामाल कोई नहीं । माण्ड एक ऐसी गायन शैली है जिसे सर कर लेना और प्रस्तुत करना ऐरे-गैरे के बस की बात नहीं है । सम्पूर्ण जीवन की साधना से यह कला आती है ।

माण्ड शैली का विकास - उसकी प्रस्तुति की परम्परा को बनाए रखनें को ही कहा जा सकता हैं । जिन पुरानी "माण्ड" की रिकार्डिंग्स प्राप्त हुई - उन्हें सुनकर पता चलता है कि यह शैली एक आलीशान इमारत के समान और गायन शैली की बारीकियाँ इसके कंगूरे के समान है - जितनी पुरानी माण्ड सुनी उनको समझना उनकी स्वरलीपि की बारीकियों को पहचानना उतना ही कठिन होता गया, यूँ ही तो माण्ड गायकी को बेजोड़ नहीं कहा जाता ।

संगीत के साधक इन कृतियों को समझें, इनके मोहपाश में बंधे और समयान्तर के अनुसार जन-साधारण तक इस शैली को पहुँचाते रहें - वही राजस्थान की माण्ड शैली की धारा का विकास है ।

1. राजस्थानी लोक संगीत और ताल तथा माण्ड गायकी में ताल का स्थान :-

शास्त्रीय संगीत तथा लोक संगीत एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, दोनों में ही समयानुसार परिवर्तन होते रहते हैं। दोनों एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक हैं क्योंकि दोनों में ही ताल व लय का महत्व होता है। राजस्थान में लोक संगीत हमेशा विकसित होता रहा। यहाँ के वाद्यों के प्रकारों की भिन्नता अपनी विशेषताओं से युक्त हैं। वाद्यों की कल्पना मनुष्य के शरीर में है। अनादि काल में मानव अपनी आनन्दानुभूति एवं भावनाओं को अपनी शारीरिक क्रियाओं द्वारा व्यक्त करता रहा होगा जैसे - ताली बजाना, पैर जमीन पर पटकना, वृक्षों को हिलाना। समयानुसार एक वस्तु से उत्पन्न आवाज से वाद्य की कल्पना की गई होगी । बाँस के रन्ध्रों में हवा के गुजरनें पर उत्पन्न ध्वनि से मोहित हो अपनी कल्पना से वाद्य निर्माण किया होगा ।

वाद्यों के वर्गीकरण के अध्ययन की शुरुआत भरत मुनि से होती है तथा नारद, कोहल, शारंगदेव आदी संगीतज्ञों ने वाद्यों की चर्चा की है । धीरे-धीरे विकास की ओर अग्रसित मानव ने जहाँ एक ओर भावों को व्यक्त करना संगीत के माध्यम से शुरु किया वहीं दूसरी ओर लय का साथ भी उसके हृदय को छू गया और गायन के साथ विभिन्न प्रकार के, समयानुसार विकसित वाद्यों का प्रयोग करने लगा।

राजस्थानी लोक संगीत अन्य प्रांतो की भांति जन समूह के निकट है। लोक कलाकार के कण्ठ से जों ध्वनि निकली वे श्वास की गति के साथ उद्भाषित हुई अर्थात गीत की लय उसकी आत्मा होती है, रेगिस्तान में ऊँट की सवारी करते समय या किसी अन्य वाहन पर चलते समय जो ध्वनि उद्भाषित हुई वे पहियों की चाल, ऊँटों के कदम या स्वयं के कदमों की ताल पर रची हुई होगी, सम्भवतः सर्व प्रथम कहरवा, दादरा, खेमटा, आदि तालों का प्रयोग हुआ होगा क्योंकि अधिकांश लोक गीत इन्हीं में निबद्ध हैं। कई लोक गीत दीपचन्दी, झूमरा, रुपक तालों में भी मिलते हैं। लोक कलाकार शास्त्रीयता के नज़दीक नहीं होते किन्तु फिर भी वो ताल के इतने पक्के होते हैं कि शास्त्रीय नियमों का पालन कर

रहे हों। कभी-कभी ढोलक पर ऐसी टेढी चालें चलते हैं कि शास्त्र से भलि भांति परिचित हो। लोक गीतों में ताल वाद्यों का महत्व है, इन ताल वाद्यों में ढोलक अत्यन्त प्रचलित राजस्थानी लोक वाद्य है।

माण्ड गायकी के साथ ताल वाद्य में ढोलक, तबले का प्रयोग किया जाता है, किन्तु लंगा - मांगणियार जाति के गायक आज भी ढोल-ढोलक का ही प्रयोग करते हैं। माण्ड गायकी में मुख्यतः चौताल, गठ चौताल, दीपचन्दी तालों का प्रयोग किया जाता है। ढोलक व तबले की संगीत से सौन्दर्य पैदा किया जाता है अर्थात गायकी के अनुरुप तबले या ढोलक पर थाप, ठेके से निकलनेवाला नाद संगीत में सौन्दर्य स्थल होता है । गीत के चलन के अनुसार उसमें विविध लयकारियाँ कभी-कभी, छोटी-छोटी परन, लग्गी, लड़ी आदि का प्रयोग गीत में रोचकता उत्पन्न करने में सहायक होते हैं । गीत के बोल के अनुसार वादक तबले में दाएँ - व बाएँ की (कलाकारी), तबले के बोल व गायकी की स्पर्धात्मक लयकारी, गायक-वादक का एक दूसरे से पूरक हो जाने के कारण रस निष्पत्ति होती है। जिस प्रकार चित्रकार के चित्रों में सौन्दर्य की अनुभूति रंगों के भरने पर होती है अर्थात चित्र में रंगों के भरने पर उसमें जान आ जाती है, तथा चित्र का सौन्दर्य दुगुना हो जाता है, आकृति सम्पूर्ण प्रतीत होती है, उसी तरह संगीत कल्पना प्रक्रिया में स्वर, लय, ताल सौन्दर्य वृद्धि में सहायक होतें हैं।

माण्ड गायकी में कुछ अन्य वाद्यों का साथ सोने पे सुहागा का काम करता है अर्थात सारंगी, कमाइचा से बीच-बीच में ऐसी सुरीली संगत माण्ड गायकी को निखार देती है । गायकी व ढोलक और तबले के नाद के साथ कमाइचा की उपस्थिती अद्‌भुत सौन्दर्य का एहसास कराती है । गायक की कुशलता से स्वरों के साथ अठखेलियाँ, वादक की अंगुलियों के लचीलेपन से ढोलक पर थाप और बीच में कमाइचा व सारंगी की मधुर ध्वनि, ये सभी माला के मोतियों की भाँति है, जिन्हें एक धागे में जब हम पिरोते हैं तो एक सम्पूर्ण रचना निखर कर सामने आती है वो है - "माण्ड" ।

2.माण्ड गायन शैली में प्रयुक्त होनेवाले वाद्य :

कमाइचा :- इस वाद्य के कमाइचा, खमायचौ आदि विभिन्न के नाम हैं । ये वाद्य आम की लकड़ी से बनाया जाता है। इसकी लम्बाई लगभग दो फीट होती है, इसमें चार तार स्टील के होतें हैं, चार तार पीतल के होते हैं, बकरे की खाल के तीन तार होतें हैं । तुम्बा आम की लकड़ी का बनाया हुआ होता है तथा ऊपर से चमड़ा मढ़ा हुआ होता है।

लंगा कलाकार कमाईचा वादन करते हुए

इसको बजाने के लिए गज का प्रयोग किया जाता है, इसका गज सारंगी के गज से थोड़ा भिन्न होता है, तथा गज में घोड़े के बाल लगाए जाते हैं । यह वाद्य सारंगी से मिलता जुलता होता है। इस वाद्य का प्रयोग मांगणियार जाति के लोगों में विशेष रुप से किया जाता है। यह वाद्य मुख्य रुप से जैसलमेर, बाड़मेर आदि क्षेत्र में प्रयोग में लाया जाता है।

सारंगी :- तार वाद्यों में सबसे अधिक प्रसिद्ध वाद्य सारंगी होता है । फिर चाहे वो शास्त्रीय संगीत हो या फिर लोक संगीत । इस वाद्य का प्रयोग प्राचीन काल से होता चला आ रहा है । शास्त्रीय गायक भी इस वाद्य को आधार वाद्य मानते है तथा लोक कलाकार भी इसे आधार वाद्य का दर्जा देते है । प्राय: राजस्थान में सारंगी के कई प्रकार प्रचलित है किन्तु लंगा जाति के लोग माण्ड गायन शैली में दो प्रकार की सारंगी का ही उपयोग करते हैं - सिंधी सारंगी, गुजरातण सारंगी । सिंधी सारंगी, गुजरातण सारंगी की अपेक्षा आकार में बड़ी होती है, सिंधी सारंगी में चार तारें, सात झारें होते हैं वह सत्रह झील के होते हैं जो कि लोक धुनों के आधार पर मिलाए जातें हैं, इस सारंगी को टालची की लकड़ी से बनाया जाता है तथा इसके नीचे का भाग बकरे

सारंगी

की खाल से मढ़ा जाता है । पैदें के ऊपरी भाग में भैंसे के सींग की घोड़ी बनी होती है, जिसके छेदों में से तार को निकाल कर किनारे पर लगे खूंटी में बाँधा जाता है । बाज के तारों पर गज चलाया जाता है सारंगी में ऊपर की खूंटीयों को मोरणिया तथा पीछे के भाग की खूंटीयों को झीलें कहा जाता है ।

सिंधी सारंगी :- सिंधी सारंगी को लंगा, मांगणियार तथा ढोली भी बजाया करते है ।

गुजरातण सारंगी :- यह आकार में सिंधी सारंगी से छोटी होती है । इसमें तरबों के स्वर सात होते हैं । इसमें चार तारें बाज के व आठ तारें तन्तु के होतें हैं । इसे रोहिड़े की लकड़ी से बनाया जाता है । इस सारंगी में कुल २७ तार होतें हैं । इसका वादन गजसे ही किया जाता है जो कि बकरें के बाल से ही बनाया जाता है ।

रावण हत्था :- यह अत्यन्त ही लोकप्रिय तन्तु लोक वाद्य है । इस वाद्य की ध्वनि अत्यन्त ही मधुर होती है । इसमें एक बड़े नारियल पर बाँस लगाकर नारियल को चमड़े से मढ़ लिया जाता है । इस वाद्य में तुम्बा नहीं होता है । मढ़े हुए चमड़े पर लकड़ी की घोड़ी की सहायता से तार लगाए जाते हैं तथा इस वाद्य का वादन गज द्वारा किया जाता है । गज की लम्बाई एक से डेड़ फुट होती है । गज पर घोड़े के बाल लगाए जाते है । गज के ये बाल जब तारों पर लगतें हैं तो माधुर्य उत्पन्न करते हैं, लोक कलाकार इस वाद्य की ध्वनि को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए गज पर छोटे-छोटे घुँघरु लगा लेतें हैं जो कि स्वर माधुर्य के साथ-साथ ताल का भी काम करतें हैं।

मोरचंग :- घन वाद्यों में मोरचंग अत्यन्त मधुर लोक वाद्य है, राजस्थान में इसका प्रयोग लोक कलाकारों द्वारा बखूबी से किया जाता है । यह वाद्य लोहे का बना होता है, देखने में छोटा होता है किन्तु बजाने में थोड़ा अभ्यास जरुरी है, इसे होठों के बीच रखकर बाएँ हाथ से दबा कर रखा जाता है

मोरचंग

और दाहिने हाथ की ऊँगली से इसे छेड़ा जाता है । मुँह की हवा से जीभ पर रखे हुए इस वाद्य में मधुर ध्वनि का प्रसारण होता है । माण्ड गायकी में लंगा गायक इस वाद्य का उपयोग अत्यन्त चतुरता से करते हैं ।

खरताल

खरताल :- आम तथा शीशम की लकड़ी के पाँच-छ ऊंगल लम्बे चार टुकड़ों से बनाया जाता है । इनके दो-दो टुकड़े दोनों हाथों में लेकर बजाया जाता है । दोनों टुकड़ों के परस्पर टकराने से, टिक-टिक मधुर ध्वनि निकलती है । जिसे अत्यन्त प्रयास द्वारा ही संभव किया जाता है । जैसलमेर व बाड़मेर में लंगा व मांगणियार कलाकार इस वाद्य का प्रयोग अत्यन्त कुशलता से करते है । माण्ड गायन करते समय लंगागायक बीच-बीच में इस वाद्य की संगत करके इस वाद्य की उपस्थिती को दर्ज कराते हैं, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि ये वाद्य ही मुख्य है यहाँ तक कि राजस्थान संगीत नाटक अकादमी (जोधपुर) द्वारा खरताल वादक सदीक़ खाँ को सम्मानित किया गया ।

सुरिंदा :- इस वाद्य को रोहिड़े की लकड़ी से बनाया जाता है, इसकी तबली छोटी होती है जिस पर चमड़ा मढ़ा जाता है । इसमें कुल आठ तार लगे होते है, इसका वादन गज द्वारा ही किया जाता है । इसके तारों को बजाते समय दबाया नहीं जाता स्पर्श मात्र ही किया जाता है । सुरिंदा वाद्य मुख्यतः मुरला वाद्य के साथ बजाया जाता है । मुख्यतः इसें सुरनइया लंगों द्वारा बजाया जाता है।

मुरला :- इस वाद्य का प्रयोग लंगा कलाकार अत्यन्त ही कुशलता से करते हैं, आकृतिनुसार मुख्यतः मुरला व पुंगी वाद्य समान ही दिखाई देते हैं, किन्तु वादन की दृष्टि से इनमें काफी अन्तर है । पुंगी की अपेक्षा इसमें पूरा सप्तक बजाया जा सकता है तथा फूँक से बजनेवाला वाद्य है।

ढोल :- यह वाद्य अत्यन्त प्रचलित है, ये कई प्रकार का होता है । लोकसंगीत में इस वाद्य का प्रयोग अत्यधिक होता है। बेलननुमा लकड़ी पर दोनों ओर चमड़ा मढ़ कर इस वाद्य को बनाया जाता है। सूत या सन की रस्सी के द्वारा इसे कसा जाता है। ये वाद्य काफी चौड़ा होता है । जिसकी ध्वनि की गूँज काफी समय तक रहती है।

ढोल

मांगणियार जाति की महिलाएँ जब अपने जजमानों के यहाँ (माण्ड) गीत गाने जाती हैं तो इसी का वादन करती है तथा इसी वाद्य की थाप पर वो माण्ड गाती हैं। साथ साथ इसके वाद्न में स्वतः निपुण होती हैं । "राजस्थान में ढोल बारह प्रकार से बजाया जाता है - एहड़े का ढोल, गेर का ढोल, नाचने का ढोल, झोटी ताल, वारु ढोल, घुड़ चढ़ी का ढोल, बारह चढ़ी का ढोल, आरती का ढोल, बार त्यौहार का ढोल, सगरी का न्योता, मटकी रो ढोल, ढमका रा ढोल" ।[1]

ढोलक :- ढोलक संगीत की दुनिया का सर्व परिचित वाद्य है ढोलक । इस वाद्य का निर्माण बड़ की लकड़ी या आम की लकड़ी से किया जाता है । इस पर बकरे की खाल का चमड़ा मढ़ा जाता है। ढोलक के दोनों मुँह बराबर होते हैं किन्तु दोनों और की मढ़ाई में अन्तर होता है, एक तरफ की ध्वनि बारीक होती है तथा दूसरी तरफ की भारी। मुख्यतः इसे हाथ की ऊगलियों द्वारा ही बजाया जाता है, आवाज को चढ़ानें, उतारने के लिए रस्सी से कसा जाता है । ये वाद्य महिलाओं में सर्वपरिचित है ।

ढोलक

राजस्थान का लोक संगीत - श्री रामलाल माथुर पृ.सं.-२०४

तबला :- मुख्यतः सर्व प्रचलित शास्त्रीय वाद्य है किन्तु वर्तमान में इसका प्रयोग शास्त्रीय संगीत के साथ साथ, लोक संगीत के प्रभावीकरण करने के लिए भी किया जाता है । वर्तमान में माण्ड प्रस्तुति में तबला वादन की अहम भूमिका है, इस वाद्य की कर्णप्रिय ध्वनि से माण्ड गायकी को सजाया सवाँरा जाता है । वैसे तो लोक संगीत में लोक वाद्यों का ही बाहुल्य होता है किन्तु तबला ही ऐसा वाद्य है जो कि शास्त्रीय व लोक संगीत दोनों मैं ही प्रयोग होता है।

तबला

*****

माण्ड गायन की विभिन्न जातियां व क्षेत्रीय आकार-प्रकार :-

किसी भी समाज की महानता उसकी सभ्यता संस्कृति उसके परिवेश पर निर्भर करती है। भाषा उस समाज के विकास का बाह्य रुप है, जिससे उसकी सम्पन्नता, वैभवता का परिचय हमें प्राप्त होता है। राजस्थान में भी विभिन्न प्रांतों की भिन्न-भिन्न भाषाएँ हैं, राजस्थान के पूर्वी सीमा पर ब्रज भाषा और पश्चिमी पर हिन्दी और बुदेन्ली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है, यदि दक्षिण की ओर आते हैं तो मराठी - गुजराती का मिश्रित रुप पाते हैं, पश्चिम में सिन्धी और उत्तर में पंजाबी लहज़ा दिखाई देता है, यहाँ तक की राजस्थान के ही हर बारह कोस की दूरी पर हमें भाषा शैली में अन्तर स्पष्ट नज़र आता है, भाषा में अन्तर हमें भले ही दिखे किन्तु मनुष्य भावों को व्यक्त, संगीत के द्वारा ही करता है, फिर चाहे वो उत्तर-दक्षिण हो या पूर्व-पश्चिम का भूभाग । चारों दिशाओं में अपनें को जोड़े रखने में संगीत सक्षम है तथा लोक संगीत भारत की आत्मा है, जिसमें हमारी संस्कृति समाहित है फिर चाहे राजस्थान हो या कोई अन्य प्रदेश । लोक संगीत में राग के स्वरों का अत्यन्त मनोहारी ढंग से प्रयोग करना राजस्थान के कलाकारों को बखूबी आता है। यहाँ के लोक कलाकार अपने लोक गीतों में रागों के स्वरों का प्रयोग करते आ रहे है इन लोक रागिनियों के अपने विशिष्ट स्वर समुदाय होते हैं इन्हीं स्वर समुदायों के विभिन्न गीत तथा धुनें प्रचलन में हैं ।

राजस्थान का पश्चिमी सीमान्त जैसलमेर अपनी लोक संस्कृति, ऐतिहासिक साहित्यिक वैभव की अनुपम छटा बिखेर रहा है, जलवायु की दृष्टि से भले ही शुष्क हो किन्तु कला रुपी जल सम्पूर्ण राजस्थान में छलकता आ रहा है।

प्रतिहार शासकों के काल में यह क्षेत्र "माण्ड प्रदेश" कहलाता था, अतः माण्ड गायन शैली का प्रचलन भी यहाँ से आरम्भ हुआ, यह क्षेत्र लोक गीतों, नाट्यों, रम्मतों के लिए प्रसिद्ध है । यहाँ के कलाकार परम्परागत संगीत में निपुण हैं कलाकारों के कंठों में सुरीलापन तथा तन मन को थिरका देनेवाली ताल है।

सामान्य धारणा के अनुसार लोकगीत संवेदनशील सामूहिक परिस्थितियों की उपज है, लोककाव्य व उसकी गायन शैली व्यक्तिपरक न हो कर सामूहिक एवं पारम्परिक विधायें होती है । समाज की मनोभावनाओं और अभिव्यक्तियों को रुप देने में व्यक्ति विशेष का सृजन स्वतंत्र वैयक्तिक प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकता और इस प्रकार लोक गीतों के अज्ञात सृजनकर्ता जिस भाषा, छन्दों, अलंकारों व प्रतिबिम्बों का प्रयोग कर जिन लोक रागिनियों का और विशिष्ट स्वरों का प्रयोग करते है वे सभी मौखिक, पारम्परिक व जातीय कलाओं की ऋणी होती है ।

वर्तमान में हम माण्ड की तरफ दृष्टि डालें तो यह एक ऐसी गायकी का स्पष्ट उदाहरण है जो राजस्थान के विभिन्न जातीय गायनों में पनपी तथा माण्ड को हम लोक गायन शैली की श्रेणी में मानते हैं तथा भिन्न-भिन्न धुनों व स्वर समुदायों के कारण माण्ड के सैकडों गीत प्रचार में हैं जिसमें एक जैसे स्वर समुदाय प्रयुक्त होते हैं किन्तु विभिन्न जाति के कलाकार इस गायन शैली को अपने अलग अलग ढंग से गाते हैं तथा प्रत्येक कलाकारों की प्रस्तुति में विविधता झलकती है।

"माण्ड" और टोड़ी, सिन्धी, भैरवी, खमाइचा, मारु, सालग, काफी, धानी, जंगला आदि कुछ ऐसी रागिनियाँ है, जिनके स्वर अनेक प्रसिद्ध लोक गीतों में पाए जाते हैं जैसे सोरठ, सारंग, पीलू, गारा, कांलिगडा, भैरवी, झिझोंठी आदि के लोक गीत शास्त्रीय राग की छाया लिए हुए होते हैं तथा रागों के समीप प्रतीत होते है । राजस्थान में माण्ड गायन शैली की विभिन्न जातियाँ निवास करती है जैसे लंगा, मांगणियार, ढोली, मिरासी । ये पेशेवर जातियाँ इन गीतों में खटका, कण, मीड़, मुर्की आदि अलंकरणों का प्रयोग करके खूबसूरती से गाते हैं तथा बखूबी छोटी-छोटी तानों का प्रयोग भी इसमें करते हैं।

इन विभिन्न जातियों से सम्पर्क साधने पर उनकी जाति विशेष के अनेक रसप्रद पहलुओं का पता चला । राजस्थान की विभिन्न भाषाओं में लिखी गई माण्ड भाषागत दृष्टि से काफी मिलती हुई थी । क्षत्रीयता के आधार पर बटी हुई अलग-अलग जातियों के

कलाकारों द्वारा प्रस्तुति के समय अपनी-अपनी विशिष्टता लिए हुए होती है उदाहरणार्थ यदि हम लंगा कलाकारों का गायन सुने तो उसमें गायकी के साथ वादन पक्ष भी प्रबल पाते हैं व गायकी को कई अलंकरणों से सुशोभित करते हैं किन्तु बाड़मेर के मिरासी कलाकार इस गायकी में अत्यधिक मुर्की का प्रयोग कर अलग ही अंदाज में प्रस्तुत करते हैं।

1.राजस्थान में माण्ड शैली का गायन करनेवाली कुछ व्यवसायिक जातियाँ।

(१) लंगा

(२) मांगणियार

(३) मिरासी

(४) ढोली

लंगा :- राजस्थान का पश्चिमी भाग पूर्णतः रेगिस्तान है, व मुख्यतः लंगा जाति के लोग यहाँ पर ही रहते हैं । भौगोलिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो यह पाकिस्तान की सीमारेखा के पास है, अतः स्पष्ट है कि कुछ लंगा यहाँ रहे और कुछ पाकिस्तान चले गए । इस जाति के लोग अधिकतर जैसलमेर व बाड़मेर में रहते हैं । मुख्यतः लंगा लोगों की बस्ती रेगिस्तानी इलाकों में है। लंगा लोग वैसे तो मुसलमान है किन्तु इनके रीति-रिवाज हिन्दुओं के समान होतें हैं, लंगाओं का मानना है कि ये लोग पहले हिन्दु थे किन्तु औरंगजेब के शासन काल में ये मुसलमान बन गए ।

मुख्यतः लंगा जाति का कार्य युद्ध भूमि में वीरों को जोश दिलाने के लिए शहनाई व सारंगी वादन करना होता था। लंगाओं के वैवाहिक रीति-रिवाज त्यौहार आदि हिन्दुओं के समान होते हैं । ये अपने पूर्वजों को हिन्दु बताते हैं तथा ऐतिहासिक कारणों द्वारा इन्होंनें ईस्लाम धर्म का अंगीकार किया । इनके अनुसार देवीदास नामक लंगा के समय में गायन वादन को अपनाया । तब से लंगों में संगीत का कार्य पीढ़ी दर पीढ़ी चला आ रहा है ।

संगीत की साधना करते हुए लय एवं स्वर की सच्चाई के महत्व का ध्यान रखते हैं इनके लिए संगीत कला नहीं है एक आजीविका का साधन है । इसी कारण बचपन से ही

गायन वादन की ओर अग्रसर कर दिया जाता है, बचपन से ही संगीत वातावरण में रहते हैं तथा बालपन में ही सुनना व सीखना आरम्भ हो जाता है तथा बालपन में ही एक पेशेवर गायक के समान बहुत सी चीजें सीख लेता है। घर में सांगीतिक वातावरण प्रारम्भिक शिक्षा के लिए काफी होता है किन्तु लंगा जाति में एक पेशेवर कलाकार बनने के लिए गुरु शिष्य परम्परा का निर्वाह किया जाता है। शिष्य बनाते समय एक आयोजन किया जाता है, इस में मिश्री को पानी में घोलकर मंत्रोच्चारण किया जाता है, मंत्र द्वारा उस पानी को पवित्र बनाते हैं यह प्रक्रिया "दरुद" कहलाती है इसके पश्चात यह पवित्र पानी को समारोह में सबसे वृद्ध व्यक्ति द्वारा गुरु को पिलाया जाता है, गुरु आधा जल ग्रहण करके छोड़ देता है तथा शेष जल को शिष्य ग्रहण करता है इस प्रकार गुरु शिष्य परम्परा का निर्वाह अत्यन्त पवित्र मन से किया जाता है। इस समारोह में मित्र व रिश्तेदार भी उपस्थित होते हैं तथा शिष्य सम्पूर्ण प्रक्रिया होने पर गुरु को शॉल या ऊनी पट्टा भेंट करता है । इस पूर्ण प्रक्रिया से ये स्पष्ट हो जाता है कि लंगा जाति के लोग संगीत कला को साधारण नहीं मानते हैं ये एक साधना द्वारा प्राप्त की जाती है तथा ये अपनी जाति के लोगों को ही अपना शिष्य बनाते है अर्थात लंगों में संगीत सिखाने की यह प्रवृत्ति अपनी जाति तक ही सीमित है ।

इस जाति के लोगों से सम्पर्क में आने के पश्चात ज्ञात हुआ कि ये लोग सारंगी वादन में सबसे पहले पणिहारी नामक गीत सिखाते हैं इस गीत को शिष्य द्वारा सफलता पूर्वक बजा लेने के बाद ही आगे का शिक्षण क्रिया आरंभ होती है। प्रस्तुति करण को प्रभावी बनाने के लिए शिक्षा का यह क्रम सांगीतिक विशिष्टताओं का अंकुर है यह अंकुर समयानुसार अपनी भाव-भूमि और स्वरात्मक संयोजनों के साथ विकसित होने लगता है । इनके गीतों को अन्य सामान्य और सहज गीतों से अलग मानना पड़ेगा, इस भिन्नता के कारण संगीत सम्बन्धी ज्ञान हो जाता है। शास्त्रीय शुद्ध रुप ना होते हुए भी संगीत में अमूर्त स्वरों का आलाप, मुर्की, छोटी-छोटी तानों का प्रयोग, गमक, मीड़, आदि द्वारा गीत को प्रस्तुत करना, कड़ी मैहनत की अपेक्षा रखता है। लंगा गायक सभी प्रकार के माण्ड गीतों

को गाते हैं चाहे वो महिलाओं द्वारा शुभ व मांगलिक पर्वों वाले हों या वीरों की प्रशंसा में गाए जानेवाले गीत । महिलाओं द्वारा गाए जानेवाले गीतों में बन्ना, अरणी, मदकर, बधावो, घुमालड़ी, हालरिया आदि "माण्ड गीतों" के प्रस्तुतिकरण में धुन के अनुरुप प्रस्तुति करते हैं अर्थात प्रचलित धुन को सक्रिय रखते हुए गले की तैयारी के कारण उसे विकसित कर लेते हैं, लोक गीत सामूहिक रुप में गाने के कारण सीधा-सीधा होता है किन्तु इनकी पकड़ में आते ही सहज रुप भी गमक-मुर्की आदि के प्रयोग से असहज हो जाता है, प्रकृति सम्बन्धी मानवीय गीत, तीज, सावण के झूले आदि गीतों को अपने कंठों द्वारा काव्यगत विशेषता को सजीवता प्रदान करते हैं । माण्ड गायन में अनेक प्रकार के दोहों का गान, मान्यताओं का गान ऐतिहासिक घटनाओं का गान की काव्य अनुरुप प्रस्तुति करते हैं । प्रस्तुति करण के समय दो-तीन के पास सारंगी होती है इनमें एक "उपज" सांगीतिक स्थितियाँ अदा करता है व बाकी धुन या स्वर का आधार देने का कार्य करते हैं । प्रत्येक गीत भावानुकूल छन्दात्मक कृति को निश्चित काव्यगत रुप में प्रस्तुत किया जाता है । लंगा जाति के लोग अपनी दो उपजातियाँ बताते हैं (१) सारंगिया लंगें, (२) सुरणईया लंगें । इनका मानना है कि इनके पूर्वज देवीदास जी सुरणई और शहनाई बजाया करते थे बाद में वंशजों ने सारंगी बजाना प्रारम्भ किया । सारंगी बजानेवाले सारंगिया व सुरणई बजानेवाले सुरणईया लंगा कहलाने लगे । इन वाद्यों द्वारा ही दो उपजातियाँ बन गई ।

<u>सारंगिया लंगा</u> :- ये सारंगी बजाने के कारण सारंगिया लंगें कहलाए जाते हैं किन्तु वर्तमान में ये अलगोजा, मोरचंग, आदि वाद्य भी बजाने लगे हैं । इनकी वेशभूषा हिन्दुओं के समान होती है, स्त्रियां चूड़ा पहनती है, हिन्दु त्यौहार भी मनातें हैं, दोनों जातियों में खाने-पीने का सम्बन्ध होता है किन्तु बेटी विवाह का सम्बन्ध नहीं होता है ।

<u>**सुरणईया लंगा**</u> :- लंगा जाति की ये उपजाति जैसलमेर के मोहनगढ़, बम्बारा आदि गावों में निवास करती है तथा ये मुरला, सुरिन्दा, मोरचंग आदि वाद्यों का वादन भी करते हैं, सुरणइया लंगें स्वयं गाते नहीं हैं ये केवल वादन का कार्य ही करते हैं ।

लंगा जाति की ये दोनों जातियों में कुछ मतभेद है। सारंगिया लंगों का मानना है कि सुरणईया लंगें प्रारम्भ से ही मुसलमान है, इनके रीति-रिवाज भी उसी प्रकार है इनकी वेश-भूषा सिन्धी मुसलमानों जैसी है, ये सफेद साफा व अजरख पहनते हैं, किन्तु सारंगिया लंगों की उपजातियाँ मुख्यतः राजपूतों की जातियों व उपजातियों से सम्बन्धित है । जैसे - तुंगा, तुवँर, भाटी आदि ।

लंगा जाति चाहे वो सारंगिया हो या सुरणईया इन दोनों का ही यह जातिगत कर्तव्य होता है कि अपने जजमानों के यहाँ त्यौहारों, अनुष्ठानों, जन्म-विवाह, पारिवारिक उत्सवों पर जाते हैं गाते-बजातें है तथा इन जजमानों सें अवसरों पर ऊँट, घोड़ा, रुपया, सोना, चाँदी, खेती का कुछ भाग ईनाम में पाते हैं । लंगों के विवाह, बिमारी, मृत्युभोज आदि पर होने वाला खर्चा भी उनके जज़मानों द्वारा ही चुकाया जाता था ।

मांगणियार :- मांगणियार का अभिप्रार्य है माँगकर खानेवाला अर्थात् इस जाति के लोग अपना जीवन-यापन मांगकर करते हैं। किसी प्रकार का व्यवसाय या अन्य कार्य में अपना अपमान समझतें हैं इसी कारण इन्हें मंगत भी कहा जाता है, इनके लिये ये भी कहा जाता है।

घर बैठों मंगतो, तीन ओगुण धाय,
कपड़े फाड़े, ऋण चढ़े, विद्या बीसर जाय ।

अर्थात :- घर बैठ कर खाने वाले मांगणियार में तीन अवगुण आ जातें हैं । (१) बैठे-बैठे कपड़ा फाड़ना (२) ऋण चढ़ने लगता है (३) तथा विद्या भूल जाता है । अर्थात ये लोग माँगकर खाने में ही विश्वास रखते हैं ।

ये लोग किसी एक धर्म या सम्प्रदाय के नहीं होते हैं, इनमें अनेक जातियाँ राजपूत, भाटी, पालीवाल, चौहान, ब्राहमण व मुसलमान आदि जातियों का मिश्रण है तथा इन जातियों से मांगणियार जाति की कई उपजातियाँ बनी । ये लोग जगह-जगह गा-बजाकर अपना

जीविकोपार्जन करते हैं। ये सभी हिन्दु देवी-देवताओं की स्तुति करते हैं व हिन्दु वेश-भूषा पहनते है । इस जाति के लोग मुख्यतः बाड़मेर, पोकरण, जैसलमेर में निवास करते हैं, किन्तु इस जाति की मुख्य विशेषता यह होती है कि ये लोग कभी भी एक स्थान पर निवास नहीं करते एक गाँव से दूसरे गाँव माँगते फिरते रहते हैं ।

मांगणियार जाति की कुछ उपजातियाँ ।

१. गेला

२. खारेड़

३. बोधर-सीधर

४. थईम (थैय्यम)

५. बाबर

गेला :- मांगणियार जाति की ये उपजाति पालीवाल ब्राहमणों से निकली मानी जाती है। ये लोग अधिकतर जैसलमेर के लोडवी गाँव में रहते हैं। इनके बारे में एक किवन्दती भी है कि एक पालीवाल परिवार में चालीस लोग रहते थे। एक भाई भोला-भाला था एक दिन उसने देवी के मन्दिर के आगे ढोलियाँ का ढोल बजाना प्रारम्भ किया और वो लगातार बजाता रहा लोग उसे गेला कहने लगे कुछ ने कहा माताजी का ढोली है ये परिवार गेला परिवार के नाम से जाना जाने लगा ।

खारेड़ :- मांगणियार की ये उपजाति राजपूतों से मानी जाती है, तथा एक बार खारेड़ जाति के लोगों में से एक ने देवी के मन्दिर में कमाइचा बजाया, तथा कमाइचा इस क्षेत्र का प्रमुख वाद्य है "कहा जाता है कि देवी के आशीर्वाद से खारेड़, मांगणियार, कमाइचा बजाने लगे तथा कविता लिखने में प्रवीण हुए। ये लोग जैसलमेर के रेगिस्तानी इलाके में रहते हैं तथा सारंगी कमाइचा बजाने में निपुण होते हैं" ।[१]

---

१ जैसलमेर का संमाजिक एवं सांस्कृति इतिहास श्री नन्द किशोर शर्मा । पृ.सं.-१९८

बोधर-सीधर :- चौहान जाति से मांगणियार जाति की ये उपजाति निकली जैसलमेर के निकट ही छायण, दत्तोगर गाँव में ये लोग निवास करते हैं ।

थईम :- (थैय्यम) मांगणियार जाति की ये उपजाति अपने को मुल्तान घराने से मानतें हैं। वर्तमान में इस जाति के अधिकतर लोग जैसलमेर में ही निवास करते हैं। इनका प्रिय वाद्य कमाइचा है किन्तु सारंगी भी कभी-कभी प्रयोग में लेना पसन्द करते हैं।

बाबर :- मांगणियार जाति की ये उपजाति मुसलमानों से निकली तथा स्वयं को मुस्लिम धर्म का बताते है और हिन्दू वेशभूषा में रहते हैं, माँस-मदिरा का सेवन भी करते हैं, किन्तु गौ माँस नहीं खाते । ये लोग कमाइचा वादन में निपुण होते हैं ।

मांगणियार जाति से ज्ञात हुआ कि इनकी कई उपजातियाँ और भी हैं जैसे देघड़ा, डग्गाघोला, बामणिया, भट्टिका, जीण आदि ।

मांगणियार जाति व इनकी सभी उपजातियाँ हिन्दू देवी-देवताओं कों पूजते हैं। हिन्दुओं के घर पर गाते बजाते हैं, हिन्दू देवताओं का गीत में गुणगान करते हैं, वेश-भूषा भी हिन्दुओं के समान पहनते हैं । इनकी महिलाएँ भी लहंगा-कुर्ती, ओढ़नी पहनती हैं, स्त्रियाँ घूँघट रखती हैं, राजस्थानी आभूषणों को धारण करती हैं, सिर पर बोरड़ा व पैरों में बिछुए पहनती हैं तथा इनका साज श्रृंगार हिन्दुओं की भाँती ही होता है ।

इस जाति के पुरुष कमीज व धोती पहनते है, इनकी आर्थिक स्थिती ज्यादा मजबूत नहीं होती है, घर में ही मुर्गी व बकरी आदि पालते हैं इनका खान-पान राजपूतों के समान होता है तथा मांस-मदिरा का प्रयोग करते हैं गौ मांस नहीं खाते हैं ।

इनकी जाति में शादी पर निकाह पढ़ाई जाती है तथा शेष अन्य कार्य हिन्दुओं रिति-रिवाजों के समान ही होते है। ये अपनी समान उपजातियों में विवाह नहीं करते।

मांगणियार जाति के लोगों का विशेष सम्बन्ध राजपूतों व पालीवाल ब्राहमणों से हैं। इन्हें घोड़ा या ऊँट दान में मिलता है, जिसका उपयोग ये स्थान परिवर्तन व यात्रा के समय करते हैं ।

घूमते-फिरते होने के कारण इनका कोई जज़मान नहीं होता मुसलमानों के यहाँ बुलाने पर गाने बजाने को जातें हैं अन्यथा स्वयं नहीं जातें ।

वर्तमान में जैसलमेर में निवास कर रहे मांगणियार जाति के श्री लालू खाँ जी से जानकारी प्राप्त हुई की ये मांगणियार जाति के (थईम उपजाति) के वंशज हैं इनके अनुसार ये मुल्तान घराने से सम्बन्धित है। वर्तमान में मोरचंग, अलगोजा, खरताल, शहनाई आदि वाद्यों का प्रयोग भी इस जाति के लोग करने लगे हैं । माण्ड गायकी में दक्ष इस जाति के लोग माण्ड के चार प्रकार ही बताते हैं, शुद्ध, आसा, सूब, सामेरी । आसा को गाने का समय सुबह तथा सूब को दिन में गाने वाली माण्ड बताते है । सामेरी गायन दुःख, मृत्यु आदि के अवसर पर जज़मानों के यहाँ जाकर करते थे ।

मांगणियारो में स्त्रियाँ भी गायन वादन करती है । विवाह, जन्मोत्सव व मांगलिक अवसरों पर ढोल-ढोलक बजाकर सभी प्रकार के गीत गाती हैं । विवाह के समय मांगणियारों को इस क्षेत्र में विशेष महत्व दिया जाता है। यह भी कहा जाता है कि पुराने समय में तो उपयुक्त लड़की लड़का ढूंढने में, समाचार देने में यह महत्वपूर्ण कार्य ये ही किया करते थे । इनके कण्ठों की मधुरता अपने देश के इतिहास, संस्कृति व कला को जीवित रखने में सहायक है। इनके द्वारा गाई जाने वाली माण्ड सुनकर हम सभी स्तब्ध ही रह जाते हैं। ये समय के अनुरुप अलग-अलग रागिनियों में गाते हैं। इनके गीतों में दूहा, छन्दों, कविताओं, लोक कथाओं का वर्णन अत्यन्त मनोहारी ढंग से मिलता हैं ।

मांगणियारों के वाद्य :- कमाइचा, मोरचंग, खरताल, सुरमण्डल, रावणहत्था, ढोलक, अलगोजा, सारंगी, मुरला, एकतारा, शहनाई ।

मिरासी :- मिरासी जाति के लोगों का कहना है कि इनका जन्म स्थान मूल रुप से पाकिस्तान है ये भाटी शासकों के साथ हिन्दुस्तान आए, ये लोग जाति से मुसलमान होते हैं। मिरासी जाति में स्त्री व पुरुष दोनों ही गाते हैं व सारंगी वादन में निपुण होते हैं । वर्तमान में

मिरासी जोधपुर व उसके आस-पास के गाँव में निवास करते हैं इनकी उपजातियों कालेट व कानोता है, कुछ लोग कानोता जातिका सम्बन्ध गौड़ ब्राहमण वंश से जोड़ते हैं ।

ढोली :- इनके नाम से ही प्रतीत होता है कि इनका नाम ढोल बजाने के कारण हुआ, या स्पष्ट रुप से कहा जाए तो इनका व्यवसाय ही ढोल बजाना है । ढोली हिन्दु व मुस्लिम दोनों ही धर्मों को मानने वाले होते हैं । "राजस्थान में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण देश में ढोल बजाने वाले प्रायः मिलते हैं तथा इस वर्ग के अलग-अलग नाम हैं - मारवाड़, जैसलमेर, बाड़मेर, जालौर में इन्हें दमामी, नक्करची व जयपुर में राणा कहा जाता हैं।" [१]

इनकी स्त्रियां राजस्थान के सब प्रकार के गीतों को गानें में प्रवीण होती है । गान्धर्वों को अपना पूर्वज मानतें हैं, तथा ये अपनी कई शाखाएँ राजपूतों से निकली बताते हैं तथा इनका परिवेश हिन्दुओं के समान ही होता है, कुछ ढोली स्वयं को मुसलमान बताते हैं, जो कि मुस्लिम आक्रमणों के समय हिन्दुओं से मुस्लिम धर्म को अंगीकार करके बने । ये ढोली कलाकार अपने को सुन्नी मानतें हैं ।

आगे चलकर इनकी कई उप जातियाँ निकली जो की भेट, कालेट, कड़वा, गेग, गोरेल, आदि नामों से जानी जाती है।

लंगा, मांगणियार, ढोली, मिरासी व अन्य जातियों के कलाकारों द्वारा माण्ड अपने-अपने अंदाज में प्रस्तुत की जाती है किन्तु माण्ड कलाकार चाहे वो किसी भी जाति का क्यों ना हो सभी इस शैली को रजवाड़ों से जुड़ा मानते हैं। वर्तमान में कलाकार अपनी कला का प्रदर्शन किसी भी रुप में करे किन्तु तब से लेकर अबतक का संगीत यही कहता है कि "माण्ड" शैली धीर-गंभीर व श्रेष्ठ काव्य लिए हुए है। ये गीतरचना के दृष्टि से परिष्कृत भाव पूर्ण और वैविध्यमय होते हैं, जिन्हें मीड़, मुरकी, खटका आदि अलंकरणों से सुशोभित किया जाता है।

---

१ राजस्थान का लोक संगीत । श्री रामलाल माथुर, पृ.सं.-१९८

संगीत कला सात स्वरों की मालिका है तथा कण्ठों की विभिन्नता कलाकार की सृजन शक्ति, रचना का रुप लेती है। कलाकार योग्यतानुसार एक ही रचना को अलग अलग रुप में प्रस्तुत करते हैं और ये परिवर्तन क्षेत्रीयता व उच्चारण के कारण स्वतः ही अत्पन्न हो जाता है। विभिन्न कलाकारों के कण्ठ से निकलने वाले शब्दों का उच्चारण भिन्नता लिए हुए होता है। प्रत्येक का प्रस्तुतिकरण का अंदाज भी भिन्न होता है। चाहे शास्त्रीय कलाकार हो या दरबारी गायक या फिर लोक कलाकार या "माण्ड" शैली के व्यवसायिक जाति के कलाकार!

"माण्ड" की प्रस्तुति सभी स्थिति में माण्ड का प्रभाव अलग-अलग रुप से श्रोता पर पड़ेगा । राजस्थान की ये गायकी प्रायः जैसलमेर, बाड़मेर, बीकानेर, जोधपुर, उदयपुर, जयपुर आदि क्षेत्रों में विशेष तौर पर प्रभावी रही है। यहाँ पर निवास करने वाले प्रत्येक कलाकार का अपना अलग-अलग अंदाज रहा । प्रदेश एक होते हुए भी, (राजस्थानी भाषा) भाषा एक होते हुए भी उच्चारण की दृष्टि से आपस में भी भिन्न-भिन्न होने का कारण बना। रचनाकारों ने काव्य में कहीं श्रृंगार का आश्रय लिया तो कहीं प्रकृति की छटा को गीत में समेटा । एक ओर जैसलमेर की राजकुमारी मूमल ने रेगिस्तान मरुधरा को प्रेम सागर से भिगोया तो दूसरी ओर झीलों की नगरी उदयपुर में प्राकृतिक छटा को गीत की लड़ी में पिरोकर गाया । प्रत्येक क्षेत्र के गायकों ने इसे नये व निराले रुप में प्रस्तुत किया जिन्हें हम सुनकर स्पष्टता महसूस कर सकते हैं ।

राजस्थान के कुछ मुख्य क्षेत्रों की "माण्ड" निम्न प्रकार से संलग्न कर रही हूँ जिनका श्रवण हम शोध-प्रबन्ध में लगे सी.डी. में कर सकते हैं ।

"राजस्थान की कुछ प्रसिद्ध माण्डें"

(१) जैसलमेर के लंगा व मिरासी जाति द्वारा मुख्य रुप से गाई जानेवाली माण्ड ।

(२) बीकानेर की अल्लाह जिलाई बाई द्वारा स्वर बद्ध की गई माण्ड ।

(३) जोधपुर की गवरीदेवी जी की माण्ड ।

(४) उदयपुर की गायिका सरस्वती जी की माण्ड ।

(५) जयपुर की बन्नों बेगम जी की आवाज मे माण्ड ।

(६) किशनगढ़ की ललिता बाई के द्वारा गाई माण्ड ।

(७) बाड़मेर की रुकमा बाईजी व अक्ला बाईजी की माण्ड ।

जैसलमेर :

"म्हारी आँखडली फरुकै, ढौले सा रो करियो कै मोर
गहूँ कै, म्हारो रे जलालौ बिलालौ कद आवसी रे
आँखड़ली ....
हाँजी रे कौरे के करवौरे, अें, जल भरयो रे
ज्यां मै चूल्यौ जाए,
हाँ रे ढोला चतुर हौवे तो रे अै पिबलै रे
मूरख तिरसो जाए
म्हारी रे चाँदी रौ बादल, घर कद अे आवसी रे
आखड़ली ....
हाँ जी ढोला भोजन भरियौ रे, अे वाटकौ रै,
रे चिड़िया चुग चुग जाय,
हाँ जी ढोला, चतुर हो वै तोरे, अे जील लैरे
आखड़ली ....
म्हारो रे लंका रौ लोढारू घर
कद से आवसी रे,
आखड़ली ....

हाँजी रे चंदण पडियों रे अे, चौहटे रे
लैऊडा फिर-फिर जाय
हाँजी ढोला आसी रै चदंण रो, रे,
अे पारखू रे लेसी मोल चुकाय
म्हारों रे ऊगतों सूरज घर कद अे आवसी र
हाँजी ढोला कांई रे मूरखरी रे अे दोसती रे
भीड़ पड़्या भुग जाए
म्हारो रे जलालौ बिलालौ घर कद अे आवसी रे
आखड़ली ...." [१]

भावार्थ :- प्रस्तुत माण्ड में नायिका की आँख फड़क रही है व नायक के घर आने का इंतजार कर रही है, नायिका द्वारा वर्णन कुछ इस प्रकार है। जल का करवा, भोजन की थाली, थाल में चंदन आपका (नायक) इंतजार कर रहे हैं। आप शीघ्र आ जाए नहीं तो जल चुस-चुस (टपकना) कर बह जायेगा भोजन चिड़िया चुग जायेंगी, तथा चंदन का मोल कोई दूसरा पारखी चुका देगा। हे प्रियतम मूरख की मित्रता कच्ची होती है । आप तो समझदार हैं, चुतर हैं मेरे विरह की भावना समझ कर तुरन्त पधारें ।

१ राजस्थानी गीतां रो गजरो, पारम्परिक राजस्थानी लोक गीतों का संकलन,
श्री रवी प्रकाश नाग - पृ.सं.५९

बीकानेर :-

केसरिया बालम आवौ नी पधारो म्हारै देस,

पधारो म्हारै देस ....

आवोनी पधारो म्हारे देस ....

केसरिया बालम आवो सा पधारो म्हारे देस

(१) मारु थारे देस में निपजे तीन रतन ऽऽ

एक ढोलो, दूजी मारवण तीजो कसूमल रंग

पधारो म्हारे देस

केसरिया बालम आवोनी पधारो म्हारे देस ....

(२) केसर सूं पगलाँ धोवती, घरे पधारो पी

हें केसर सूँ पगलाँ धोवती, घरे पधारो पी,

और बधाई क्या करुँ पल पल वारूँजी

पधारो म्हारे ....

केसरिया बालम ....

(३) आवों मीठी आम्बली, चोचर मीठी सा

म्हलाँ मीठी कांबली रण मीठी तलवार

पधारो म्हारे देस

केसरिया बालम ....

जोधपुर :-

हां सूवरि या चीलौ मुधरो ज चाल रे
मुधरौ मुधरौ चाल रे भाकर रा रै भाँमिया रे
सूवरिया ....
सूवर सूतों नींद मै ए भूंडण पौरो देय
जागो सूवर निंदाड़का थारी फौज हि लौड़ालेय
हे ए सूबरिया मुधरौ मुधरौ चाल चाल रे
अरे धीमो मुधरो चाल रे भूंडण हा रे ब़ादसा
हाँ सूवरिया धीमौ मुधरौ ज चाल
यूं चढ़ भूंडण भूंण भाकरां म्है जाउँ रण थट्ट
मैला रुवाणूं कांमण्यां, कै मांस बिकाऊँ हट्ट
ऐ सूवरिया मुधरौ मुधरौ ऐ जी चाल रे
धीमौ मुधरौ चाल रे भाकर रा भौमिया
हां रे सूवरिया धीमो मुधरौ चाल
सूरौ बायी दातड़ी रे, ऐ जाय खटक्की हाड
अरे भाई व्है तौ बावड़ै अरे गयौ बि़राणौ छाड़
ऐ जी सूवरिया रे अरे राजपूतां दब भांज रे
मुधरौ मुधरौ चाल रे फोजां दल भांजणा रे
गाडा मारु पांच से रे, ए पाखडिया रो पचास
तुरी उडाय देवू थूंड सू ऐ जी भूंडण रौ भरतार
सूवरिया ....
मुधरौ मुधरौ चाल रे भाखर रा भौमिया
भौमिया सूवरिया धीमौ ....

सूरा जिणे तो ऐसा ज जिणजै के दाता के सूर

नीतंर रई जै बांझड़ी हे ए मती गमाई जे नूर

सूवरिया................

अब चाल रे मुधरौ मुधरौ चाल रे भूंडण रा सायबा रे ....

सूरा जणैं तौ चार जिणजै मत जिणजै चोईस

व्है च्यारुँ रण भंजणां व्है च्यारुँ ई चालीस

हे, ए सूवरिया अरे ....

मुधरौ मुधरौ चाल रे

आरण खटूकौ म्है सुण्यो रे हे ए सोनौ घडै सोनार

ऐ जी कंवरा घड़ीजै कांठला रे अरे घोडलियां घुड़माठ,

सूवरिया............

ऐं जी फौजा रण भंजणा रे

सूवरिया ....

आरण खटूकौ म्है सुण्यौ लोहो घड़ै लुहार

सूरां घड़ीजे सेलड़ा रे हां राजपूताँ तलवार

हे सूवरिया

हाँ चाल रे मुधरौ

हे सूवरिया राजपूतां ने रंग अब रंगजी

मुधरौ

सूवरिया ....

उदयपुर :-

ओ थाने पंखियौ ढुलावा सारी रैन - म्हारा मीठा मारु यां ही रहियो सा,

ओ म्हारो बाताँ बिलवावाँ सारी रैन, म्हारा उलझा रेशम,

यां ही रहियो सा

ओ बादिला यां ही रहियो सा ....

साजण आया रे सखी, तो कांई कराँ मनवार,

हिवड़ेरी हो पातल करुँ, मनडेरी मनवार

ओ थाने ....

साजन फूल गुलाब रो तो मै फूलों री बास,

साजन म्हारी कालज्यों तो मैं साजन री आस,

ओ थाने पंखियौ ....

साजन यूँ मत जाण जै, कि तोहे बिछड़े मोहे चैन,

जैसे जल बिन माछरी तो तड़पत हूँ दिन रैन,

थाने ....

नैनन की कर कोठरी तो पुतली देवूँ बिछाए,

पलकन की चिक डार के, तो साजन लेवूँ बुलाए

ओ थाने पंखियाँ ढुलावाँ सारी रैन ....

इन सभी माण्डों को सुनकर हमें स्थानीय भाषा में अन्तर, कलाकार के उच्चारण में अन्तर एवम कलाकार की प्रस्तुति रुप में भी अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। "माण्ड" राजस्थान प्रदेश की होते हुए भी क्षेत्रियता के आधार पर हमें विभिन्न रुपों में दिखाई देती है। एक विशेष स्वर लहरी को रचना में डालकर कलाकार की प्रस्तुति भिन्नता को बढ़ावा देती है।

जिस प्रकार राजस्थान में प्राकृतिक दृष्टि से मरुस्थल, पर्वतीय क्षेत्र, रेतीले टीले, समतल मैदान सभी विद्यमान है उसी प्रकार संगीत की प्रस्तुति में भी भिन्नता आ जाती है । जैसलमेर, बाड़मेर, बीकानेर आदि मरुप्रदेश दूर-दूर तक रेत के टीले ही दिखाई देते है व कलाकार इस मरुधरा में अपने गीत के स्वरों की गूँज ऊँचें स्वरों में मन को भिगोकर शीतलता प्रदान करते हैं किन्तु इन क्षेत्रों में भी हमें अलग-अलग रुप नजर आजाता है । उदयपुर - पहाड़ी - पर्वतीय स्थल झीलों के बीचों बीच बसा ये क्षेत्र अपने गीतों में मधुरता लिए होता है । जयपुर राजस्थान का समतलीय भाग है किन्तु उसके स्वरों में उतार-चढाव हमें, मिलता है अतः राजस्थान की इस शैली ने राजस्थान में ही नहीं सम्पूर्ण देश को आकर्षित किया है, माधुर्य के कारण आज देश ही नहीं विदेशों में भी प्रस्तुत किया जा रहा है ।

2.राजस्थान की व्यवसायिक सांगीतिक जातियां :-

दरबारी गायकों के अलावा विभिन्न ऐसी जातियाँ हैं जो कि संगीत द्वारा ही अपना जीविकोपार्जन करती हैं, इन जातियों अन्तर्गत - ढाढी, डोम, राणा, भाण्ड, फदाली, भवाई, भाट, रावल, राणा, भोपा आदि विभिन्न जातियाँ हैं ।

(१) **ढाढ़ी** :- इस जाति के लोग ढोलियों सें मिलतें - जुलते होते हैं, इनमें व ढोलियों में एक ही अन्तर है, ढोली-ढोल बजा कर जीवन यापन करते हैं व ढाढ़ी सारंगी या रबाब । इस वर्ग में कुछ हिन्दू होते हैं व कुछ मुसलमान । किन्तु दोनों ही हिन्दू रीति-रिवाज को अपनातें हैं । इनकी प्रमुख उपजातियाँ सिहोल, बगड़वा, डोडण आदि हैं ।

(२) **रावल** :- इस वर्ग के लोग उच्चकोटि के व्यंगक होते हैं, तथा लोक नाट्यों के लिए रावल वर्ग प्रसिद्ध है । इस वर्ग की एक विशेषता यह है कि यह सिर्फ अपने स्वामियों के यहाँ ही गायन वादन करते हैं ।

(३) **डोम** :- इस जाति का व्यवसाय भी गाना बजाना है, किन्तु अन्य व्यवसायिक जाति के लोग इस जाति को निम्न श्रेणी की दृष्टि से देखते हैं ।

(४) **राणा** :- इस वर्ग के लोग मध्यकाल में युद्ध में नगाड़े बजाने का कार्य करते थे, इसलिए ही ये लोग राणा कहलाए इस वर्ग के कुछ लोग गाने-बजाने का कार्य भी करते हैं, ये अपना जीवन राजपूतों के समान बिताते हैं ।

(५) **भोपा** :- इस वर्ग के लोग अपने-अपने ईष्ट देवों के गीत सुनाते हैं । इस वर्ग में स्त्रियाँ भी गाती हैं व ये लोग गायन में रावण हत्थे का प्रयोग करते हैं ।

(६) **फदाली** :- इस वर्ग के लोगों को हरे झण्डे लेकर जुलूस में जाते हुए व गाते हुए आज भी देखा जा सकता है, अज़मेर के उर्स के मेले में भी गाते हैं ।

(७) **भाँड** :- इस वर्ग के लोगों का कार्य मुख्य रुप से स्वांग करना है । स्वांग के अनुसार भाषा और अभिनय का पूरा ख्याल रखा जाता है ।

(८) **जनसाथी** :- बीकानेर के करीब २० की.मी. दूर एक गाँव में मुख्यतः इस वर्ग के लोग रहते हैं, ये लोग अग्नि नृत्य के लिए विख्यात हैं । इन लोगों का कहना है कि ये लोग केवल आत्मविश्वास, अभ्यास व गुरु के आशीर्वाद पर ही यह नृत्य करने में सफल हो पाते हैं । इस नृत्य में मुख्यतः गायक के रागालाप व नगाड़े की ताल पर विशेष ध्यान दिया जाता है ताल चूकने पर ही पैर जलना सम्भव है ।

*****